



प्रवचन नं. ४ श्लोक-३ ता. १०-६-७८ शनिवार - जेठ सुद पांचम-२५०४

समयसार तीसरा कलश है। दो हो गये हैं ना ? तीसरा कलश, नमः समयसाराय यह श्लोक होगया उसमें भी सर्वज्ञपना सिद्ध किया। सर्वभावांतरच्छिदे आया ना ? वास्तवमें तो जीव का सर्वज्ञ स्वभाव है उसमें से सभी बातें प्रसिद्ध होती हैं। सर्वज्ञ स्वभाव है, 'ज्ञ' स्वभाव कहो सर्वज्ञ कहो, यह स्वभाव और उसका स्वरूप है। जो

स्वरूप है, वह प्रगट होता है। स्वानुभूत्या चकासते - अपनी अनुभूति की क्रिया से (प्रकाशित होः, जो वह सर्वज्ञपना है, वह प्रगट होता है। वहाँ सर्वज्ञपना सिद्ध किया, अनंत धर्मणस्तत्त्वं, में सर्वज्ञपना सिद्ध किया, क्योंकि चेतनतत्त्व जो ज्ञायक भाव वह सभी धर्मों में (और) अपने में व्यापक है। - ऐसा कह कर उसे आत्मतत्त्व कहा, चैतन्य को।

वह भी चैतन्य अर्थात् स्वभावज्ञायक, 'ज्ञ' स्वभाव यह 'ज्ञ' स्वभाव, सर्वज्ञ स्वभाव, अपने सर्वधर्मों में व्यापक है, वह भी वहाँ सिद्ध किया। **स्वरूपसर्वज्ञ और प्रगट सर्वज्ञ।**

यहाँ तो विशेष विचार क्या आया कि सर्वज्ञ स्वभाव है वह भी मात्र जानना देखना उसका स्वभाव है। अर्थात् यह क्रमबद्ध जो कहलाता है क्रमबद्ध, यह क्रमबद्ध का निर्णय है, वह अकर्त्तापने में होता है, करना नहीं है उसे, जानना है, **क्रमशः पर्यायें होती हैं द्रव्य की अपनी भी, परंतु उसमें उसका कर्त्तृत्व नहीं, क्रमशः हो उसमें कर्त्तृत्व क्या करना ? उसमें भी अकर्त्तापना सिद्ध करके और अस्ति से वह भी ज्ञातापना सिद्ध किया है।** वहाँ भी सर्वज्ञ स्वभावी, प्रगट पर्याय में सर्वज्ञ और शक्तिरूप सर्वज्ञ सिद्ध किया है। क्योंकि जहाँ पर वस्तु या खुदकी पर्याय का और अपने रागादिक को करना नहीं (जहाँ), वहाँ अकर्त्तापना है, अर्थात् ज्ञातापना है। यह ज्ञातापने का स्वभाव, उसका अनुभव होना वह सम्यग्दर्शन और पर्याय में प्रगटीकरणका, वह सर्वज्ञदेव स्वरूप है, और उन सर्वज्ञ को... स्वरूप सर्वज्ञ है उसे प्रगट करने के लिये साधते हैं, स्वानुभूत्या यह गुरु है। इसमें देव आये, गुरु आये और उनकी जो वाणी है वह शास्त्र है, परंतु यहाँ वाणी और टीका (की) व्याख्या आयेगी। आहाहाहा ! समझ में आता है ? यह वाणी जो है सर्वज्ञ की, इस वाणी में भी सर्वज्ञपना ही सिद्ध करना है, पर का अकर्त्तापना और स्वका ज्ञातापना, यह सिद्ध करना है।

अब, वह वाणी कैसी है और इस वाणी से मैं टीका करता हूँ, तो ऐसे फल को चाहते हैं, तो क्रमबद्ध है ना फल चाहते हैं ? इसका अर्थ है कि, (वाणी) मेरा स्वरूप ही देखो ?

(मालिनी)

परपरिणतिहेतो मूर्हनाम्नोऽनुभावा-

दविरतमनुभाव्य व्याप्तिकल्माषितायाः ।

मम परम विशुद्धिः भवतु

शुद्ध चिन्मात्रमूर्ते समयसारव्याख्यैवानुभूतेः ॥३॥

आहा ! उधर भी शुद्धचिन्मात्र मूर्ति कहकर सर्वज्ञ स्वरूपी आत्मा है - ऐसा सिद्ध किया है। आहाहा ! यह कहते हैं देखो तीसरे श्लोक में टीकाकार इस ग्रंथ

का व्याख्यान करने के फल को चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं। समयसार व्याख्या एव। यह वाच्यरूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा, और वाचकरूप में ग्रंथ का कथन समयसार व्याख्या एव 'एव' शब्द लिखा है, समयसार अर्थात् शुद्धात्मा, सर्वज्ञ स्वभावी प्रभु शुद्धात्मा, आहाहा ! अथवा ग्रंथ, शब्दो, समयसार आत्मा अथवा समयसार के शब्दो, उसकी कथनी और टीका से ही... भाषा ऐसी है, 'एव' शब्द है ना ? व्याख्या 'एव' कथनी रूप टीका से ही हमारी अनुभूति, अनुभवरूप परिणति की परमविशुद्धि हो। आहाहा !

अब एक तरफ - ऐसा कहना कि टीका करने में तो विकल्प है। पण्डितजी ! टीका करने में... क्योंकि टीका है वह तो शब्द है और परद्रव्य है, यह टीका करने से ही हमारी परम विशुद्धि हो जाये - ऐसा कह कर पर्याय में अशुद्धता है... मैं मुनि हूँ, फिर भी अभी तीन कषाय का अभाव होने पर भी विकल्प है - ऐसा सिद्ध करते हैं। टीका करने का विकल्प आया है वह विकल्प है। आहाहा ! इस टीका से ही... इसका अर्थ है कि टीका में मेरा झुकाव तो सर्वज्ञ की सिद्धि करना है। और हमारी उस समय की (दृष्टि) ध्रुव में मेरा ध्येय है, वह सर्वज्ञ स्वरूपी है उसमें मेरा ध्येय है और जो पर्याय प्रगट होती है वह सर्वज्ञ है। तब हमारी टीका के काल में, भले टीका हुयी उस समय केवल (ज्ञान) हुआ नहीं और बात तो ऐसी है (कि) टीका एव परम विशुद्धि भवतु... टीका हो गई फिर भी परम विशुद्धि केवल (ज्ञान) हुआ नहीं। फिर भी निर्मलता हुई है और निर्मलता होगी, हमारा ध्येय द्रव्य ऊपर है, चैतन्यवस्तु है। वह सर्वज्ञ स्वरूपी यह स्वयं कहेंगे, 'शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति' शुद्धचिन्मात्र मूर्ति तीसरा पद है ना ? तीसरे का आखरी पद, मैं तो शुद्धज्ञायक मात्र मूर्ति हूँ। आहाहाहाहा !

सर्वज्ञ 'ज्ञ' स्वभाव, चित् ज्ञानस्वभाव मूर्तिस्वरूप ही मेरा है। शुद्धचिन्मात्र, सर्वज्ञ चिन्मात्र, सर्वज्ञ स्वभाव मात्र मेरा स्वरूप है, द्रव्य दृष्टि से तो मैं - ऐसा ही हूँ। आहाहा ! चिन्मात्र मूर्ति, ज्ञान। भाषा तो देखो ! ओ हो हो हो ! एक एक गाथा में ज्ञान की पूर्णता का वर्णन करना है। जिसप्रकार वहाँ शक्तियों का वर्णन किया है न ! जीवत्व-चित् तो प्रत्येक में ज्ञान है, जीवत्व, चित्ति दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य वगैरह ओहोहो ! कारण कि ज्ञान बिना दूसरी चीज को जानेगा कौन ? भले अपने अनंत गुण हैं, परंतु उन गुणों को जानेगा कौन ? जाननेवाला तो ज्ञान है। दूसरे गुण कुछ जानते नहीं ! आहाहा ! मैं तो एक चिन्मात्र मूर्ति प्रभु हूँ। आहाहा ! सभी गुणों का और मेरे गुणों का ज्ञान का यह और जगत के द्रव्य-गुण-पर्याय सभी का मैं तो जाननेवाला सिर्फ द्रव्य हूँ। आहाहा ! परंतु इस टीका से ही 'मम अनुभूति' मेरी अनुभूति, शुद्ध परिणति की 'परमविशुद्धि' अर्थात् - ऐसा क्यों कहा ? कि अनुभूति

है तो अवश्य 'परम विशुद्धि' शब्द प्रयोग किया है ना ? आहाहा !

'परमविशुद्धि' ओ हो ! शुद्धि है, वस्तु है द्रव्य दृष्टि से कहेंगे आगे, चिन्मात्र मूर्ति हूँ। मैं तो द्रव्य हूँ और पर्याय में भी अनुभूति तो है। आहाहाहा ! वह स्वभाव को अनुसरण करके अनुभव और अनुभूति-परिणति निर्मल है, इतना सिद्ध किया।

फिर बाद में मेरी अनुभूति की परिणति की परम विशुद्धि, विशेष शुद्धि, समस्त रागादिक रहित उत्कृष्ट निर्मलता परम है ना ? अर्थात् उत्कृष्ट निर्मलता हो जाये। भले टीका के काल में पूर्ण निर्मलता हुयी नहीं **परंतु उस टीका के काल में मेरा ध्येय तो सर्वज्ञ शक्ति स्वभाव ऊपर ही है, अतः हमारी शुद्धि हमारे ध्येय के कारण, शुद्धि बढ़ती जाती है।** ध्येयमें से मेरी दृष्टि हटती नहीं। आहाहा ! इसलिये उन्हें टीका करने से हमारी विशुद्धि हो - ऐसा मैं कहता हूँ। परंतु इसका अर्थ यह है कि टीका के काल में मेरी परम विशुद्धि हो। पण्डितजी - ऐसी बातें हैं। आहाहा ! दिगम्बर संतो के कलश श्लोक गजब बात है। आहाहा ! एक एक वाक्य में कितनी बातें समा देते है। आहाहा ! और बाद में अपनी कही, हमारी अनुभूति पर्याय-परिणति शुद्ध चैतन्य मूर्ति हूँ, यह बाद में कहेंगे। मेरी अनुभूति में अशुद्धि है यह बाद में कहेंगे। यहाँ तो पहले अनुभूति, परम विशुद्धि-परमशुद्धि राग रहित उत्कृष्ट निर्मलता हो। आहाहा !

संतो (को) तीन कषाय के अभावरूप आंतरिक अनुभूति तो वर्तती है, और उनको ध्येय में पूर्ण सर्वज्ञ स्वरूप प्रभु... वह तो दृष्टि में वर्तता है। आहाहा ! हमारा ध्येय तो यह है। परंतु यह टीका करने की वृत्ति हुयी है कि यह शास्त्र के भाव है वह विशेष स्पष्ट हों - ऐसा भाव-विकल्प आते रहते हैं। इसलिये टीका के काल में... यहाँ पाठ तो - ऐसा है। टीका एव, व्याख्या एव, टीका से ही, तो टीका से ही तो टीका तो शब्द है। परंतु कहने का आशय यह है, उस समय मेरा यह स्पष्टीकरण करने की, जो टीका होगी उसमें हमारा जोर अंदर के शुद्धद्रव्य ऊपर (जोर) वर्तता है, उससे मुझे विशुद्धि तो है, मुझे विशुद्धि नहीं - ऐसा नहीं परंतु परम विशुद्धि हो। आहाहा ! - ऐसा कहकर अपना साधक स्वभाव, टीका के काल में वृद्धि, निश्चय से वृद्धि होगी - ऐसा कहते हैं। आहाहाहा !

भगवान को पूँछा नहीं कि टीका करते समय मुझे परम विशुद्धि बढ़ेगी कि नहीं ? आहाहा ! (स्वयं अपने भगवान से पूँछा) इस आत्मा का जो स्वभाव 'ज्ञ' स्वभाव और जिसने दूसरे सभी गुणों को प्रसिद्ध किया है - ऐसा जो ज्ञान स्वभाव, दूसरे गुणों को प्रसिद्ध किया है, प्रगट किया है - ऐसा नहीं। जो जाननेमे आया है वह बताया है। आहाहा ! - ऐसा जो हमारा ज्ञानभाव, यह बाद में कहेंगे। यह शुद्धचिन्मात्र मूर्ति

वह मैं हूँ। वस्तुतः तो यह मैं हूँ। परंतु पर्याय विशुद्ध-निर्मल है, उसमें परम विशुद्धि पर्याय में हो - ऐसी मेरी निश्चय भावना है और - ऐसा होता ही है। - ऐसा आहाहाहा !

दूसरी तरह कहें तो परमविशुद्धि हो। हमारी शुद्धि अप्रतिहत है। आहाहा ! इससे हमारी अनुभूति है, उससे वह बढ़ेगी ही। आहाहा ! क्या चैतन्य के अनुभव की बलिहारी ! और चैतन्य के पूर्ण स्वभाव के सामर्थ्यका चमत्कारपना !! आहाहा ! अरे प्रभु ! इसमें कहाँ विवाद। वह कहते हैं ना, क्रमबद्ध नहीं है। क्रमबद्ध मानना एकांत जहर है। अरे प्रभु ! सुन भाई प्रभु ! तुम सर्वज्ञ स्वभावी हो कि नहीं नाथ ! आहाहा ! तुम कौन हो ? तुम कितने हो ? कैसे हो ? तुम देखो, जितने हो उतना तुम्हें ख्याल में आता है, तो क्रमबद्ध, अकर्त्तापना और ज्ञातापना सिद्ध हो जाता है इसमें। आहाहा !

नियतवाद हो जाता है इसमें। किंतु नियतवाद के साथ पांचों वाद हैं, पांचों समवाय हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता और काललब्धि तथा (निमित्त का अभाव) सब है। यहाँ तो जो वस्तु, मैं शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति हूँ - ऐसा जो मुझे ध्येय में भासा है वस्तु (द्रव्य) वह तो इसीप्रकार ही रहनेवाला है परंतु शुद्धि जो है वह शुद्धि भी हमारी टीका के समय शुद्धि की वृद्धि होगी। आहाहाहा ! भवतु कहते हैं भाई ! गजब है प्रभु ! आहा ! मुनियों की गाथा और पंक्ति !! आहाहा ! अरे दिगम्बर संत कहाँ है जगत में भाई ! आहाहा ! (श्रोता - स्वभावका भी ज्ञान, अशुद्धता का भी ज्ञान और शुद्धता का भी ज्ञान) - ऐसा है। आहाहा ! हमारे द्रव्य की भी खबर, हमारी जो (पर्याय में) शुद्धि हुयी है उसकी भी खबर, और शुद्धि बढ़ेगी उसकी भी मुझे खबर है। उसमें तो यथार्थ में शुद्धि बढ़ेगी - ऐसा कहने पर मैं इस भाव से ही, सम्यग्दर्शन और ज्ञान के भाव से ही, मैं पूरण केवलज्ञान लेनेवाला हूँ। आहाहा ! - ऐसा मेरा प्रभु पुकारता है (अंतर की आवाज) - ऐसा कहते हैं। चैतन्य प्रभु। स्वभाव से पूर्ण भरा हुआ अनंतगुणों को भी एक गुण एक समय में जाननेवाला- ऐसा सभी गुणों को जाननेवाला और सभी को जाननेवाला- ऐसा मेरा प्रभु सर्वज्ञस्वभाव, यह मुझे स्वीकार है। विश्वास में, सम्यग्दर्शन में यह बात बैठ गई है। वर्तमान में भी शुद्धपरिणति इसके अतिरिक्त अपने आश्रय से सम्यक्त्व है और स्व के विशेष आश्रय से हमारी शुद्धि भी है। आहाहा ! और इससे भी विशेष आश्रय होगा और शुद्धि होगी ही। आहाहाहा ! क्या मांगलिक किया है ! (शुद्धि प्रगटे उसे ही मांगलीक कहते हैं न ?) आहाहाहा !

‘परमविशुद्धि’ विशुद्धि शब्द का बहुत प्रयोग होता है, विशुद्धि तो शुभ को भी कहते हैं, शुद्ध को भी कहते हैं, द्रव्य को भी कहते हैं, विशुद्धि शब्द द्रव्य को भी प्रयोग होता है। गुणों में प्रयोग होता है, निर्मल पर्याय में भी प्रयुक्त होता और

मलिन शुभ पर्याय में भी विशुद्ध (शब्द) का प्रयोग होता है। पण्डितजी ! आहाहाहा ! परंतु यह मेरी परम विशुद्धि तो बिलकुल निर्मल ही है, वह निर्मलता बढ़ जायेगी। आहाहाहा ! परम विशुद्धि समस्त का अर्थ :- **समस्त रागादिक विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता** होगी। अब कहते हैं यह परिणति है, किस प्रकार है ? अशुद्धता है क्योंकि विशुद्धि हो - ऐसा कहा, अभी तक अशुद्धि है। विशुद्धि भी है और अशुद्धि भी है, विशुद्ध प्रगट, प्रगट विशुद्धि भी है और प्रगट अशुद्धि भी है, अन्यथा पूरण विशुद्ध प्रगट हो - ऐसा कहाँ से आया ? अर्थात् अशुद्धि भी है। आहाहाहाहा ! तीन कषाय का अभाव (है) वह मुनिराज स्वयं आहाहा ! अरे मुझे अभी तक अशुद्धि है। वह अनादि की है वह है। अशुद्धि गयी थी फिरसे नई हुयी - ऐसा नहीं है। यह अशुद्धि का अंश मुझे अनादि का है। आहाहा !

कैसी है परिणति ? अशुद्ध, 'परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभवात्' परपरिणति का कारण है। है तो परिणति विकारी इसलिये परपरिणति कहा जाता है। शुद्ध स्वरूप रूप परिणति नहीं। आहाहा ! परपरिणति का हेतु, हेतु शब्द है ना ? आहाहा ! हेतु शब्द है। परपरिणति हेतु, उसका यह कारण, हेतु अर्थात् कारण। हमारे में जो विकार का अंश है... आहाहा, एक तरफ नियमसार में - ऐसा कहते हैं कि थोड़ा राग है मुनिको, **कभी - ऐसा कहें कि मुनि की दशा और केवली की दशा में फर्क मानें वह जड़ है, नियमसार में एक कलश में - ऐसा कहते हैं।** थोड़ा राग का अंश है उसे गौण करके, आहाहा ! क्योंकि, उसे निकल जाना है, इसकारण मुनि और केवली में कुछ फर्क नहीं, फर्क माने वह जड़ है, आहाहा ! - ऐसा कहा है हों ! यह कलश है। आहाहाहा ! अरे संतों की तो बलिहारी है ना !! जिन्होंने केवलज्ञान को खड़ा रखा है। आहाहा ! पंचमकाल में केवलियों के रास्ते चलनेवाले वह केवलज्ञान को खड़ा रखते हैं। आहाहाहा ! और यहाँ तक कहा है प्रवचनसार में जिसने मोक्षमार्ग साधा है उसे हम मोक्ष कहते हैं। प्रवचनसार की आखरी पांच गाथायें हैं। आखरी पांच गाथायें है, पांच रतन है। पांच गाथा, पांच रत्न। आहाहा ! परंतु यहाँ जो थोड़ी अशुद्धता है उसे ख्याल में रखा है। बिलकुल पर्याय शुद्ध ही हो गई है - ऐसा नहीं है। वस्तु है वह तो पूर्ण शुद्ध है। आहाहा ! परंतु मेरी पर्याय में अभी थोड़ी अशुद्धता है, शुद्धता है और अशुद्धता का अंश है - आहाहा !

यह परपरिणति का हेतु मोह नामक कर्म है। निमित्त, **उसके अनुभव उदयरूप विपाक के कारण** उसके विपाक (फलदान शक्ति) को लेकर। आहाहा ! उसके कारण नहीं हो। परंतु उसके विपाक में मेरा जो जुड़ना हुआ उसके कारण... उसे तो निमित्त कहा ना ? तो निमित्त यहाँ कुछ करता नहीं; अन्यथा निमित्त कहलाये नहीं परंतु

उसका पाक (फल) वहाँ निमित्त में आया, हमारी स्वयं की परिणति थोड़ी कमजोर (है) अर्थात् अंदर भी (परिणति) जुड़ जाती है।

अहो ! केवली सर्वज्ञ परमात्मा उनकी धर्म कथा उनकी वाणी गणधरों और इन्द्रों के बीच में केसी होगी ? आहाहाहा ! साक्षात् सिद्ध पद मानों ऊपर से उतरा हो ऐसी वहाँ वाणी निकलती होगी। आहाहा ! यहाँ मुनि कहते हैं, एक तरफ - ऐसा कहते हैं कि समकिति को बंध और आस्रव होता नहीं। आता है !? सम्यग्दृष्टि को आस्रव और बंध होता नहीं, यह मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी की अपेक्षा बात है (भोग निर्जरा का कारण है) **एक तरफ - ऐसा कहते हैं, ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं। वहाँ तो उनकी दृष्टि के जोर की अपेक्षा यह बात की** है और समकिति को आस्रव और बंध नहीं वह तीव्र मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का नहीं। यहाँ तो मुनि कहते हैं कि हमको अभी भी अशुद्धता का अंश है आहाहा ! क्योंकि यह मोहकर्म का निमित्त है उसके कारण अनुभाव्य-व्याप्ति कल्माषितायाः अनुभाव्य रागादिक परिणामों की व्याप्ति हमारे में हमसे है। आहाहा ! मोहकर्म तो निमित्त है परंतु पर्याय में विकार की व्याप्ति हमारी कमजोरी के कारण अनादि की है, वह हो, भले मुनिपना प्रगटा है, समकित प्रगटा है, यह समकित अब केवलज्ञान लेकर ही रहेगा, परंतु यह परिणति अनादि की अशुद्ध विद्यमान है थोड़ी, आहाहाहा ! यह हमारे ख्याल में है। आहाहा !

पंचमकाल के संत... आहाहा ! कहते हैं कि यह **अविरतम् अनुभाव्य व्याप्ति** आहाहा। रागादि परिणामों की व्याप्ति अविरतम् निरंतर है ना ? आहाहा ! एक ओर प्रभु पूर्ण द्रव्य है, पर्याय-परिणति (रूप) में आनंद एवं परिणति शुद्धवर्तती है, फिर भी वहाँ एक अशुद्ध परिणति निरंतर वर्तती है। आहाहा ! कारण कि अशुद्ध परिणति गयी हो और फिर से हो - ऐसा होता नहीं, अशुद्धिरूप परिणति अनादि की है वह यदि नाश हो गई हो तो फिर से होगी नहीं। अनादि की परिणति, वस्तुस्वभाव का अनुभव होने पर भी, कुछ अंश में निर्मल परिणति होने पर भी, पूरी (निर्मल) नहीं इसलिये हमेशा कल्माषिताया-कलुषित परिणति है मेरी। आहाहा ! (निरंतर वर्तती है) आहाहा ! है ना ?

अविरतम् निरंतर कल्माषित, आहाहा ! मैली है। अनुभाव्य व्याप्ति कहा ना, उससे व्याप्त हूँ। आहाहा ! कर्म तो निमित्त मात्र है, परंतु हमारी परिणति में अभी अशुद्धता का अंश है। यह अंश अनादि का है। अनादि का अंश है इसलिये मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि नहीं टला (गया) - ऐसा नहीं, वह तो नष्ट होगया है। तीन कषाय और मिथ्यात्व (तो नष्ट हो गया) है। परंतु यह जो है (संज्वलन) वह अनादि की परिणति है। वह तो पहले गयी थी फिर से हुयी - ऐसा नहीं। आहाहा ! समझ

में आया ? - ऐसा मार्ग वीतराग का बहुत (सूक्ष्म) बापू :- आहा !

अनुभाव्य यह हमारी ही बात है - ऐसा कहते हैं। अनुभाव्यता में अनुभाव कर्म का, अनुभाव कर्म का निमित्त, अनुभाव्य हमारी परिणति, हमारी परिणति में अनुभाव्य हमारे कारण व्याप्त है - ऐसा कहते हैं। आहाहा ! अनुभाव यह निमित्त है, अनुभाव्य यह अपनी खुदकी अशुद्ध परिणति है साथ में, आहाहा ! निरंतर मैली है, आहाहा ! एक बाजु - ऐसा कहते हैं, जहाँ तहाँ आधार देते है कि समकिति को आस्रव बंध नहीं। **समकिति को आस्रव बंध नहीं। किस अपेक्षा से भाई ! उसे मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी का मूल संसार है उसका आस्रव बंध नहीं।** दूसरा आस्रव अभी है चौथे (गुणस्थान में) तीनकषायें, पांचवें में दो (कषाय), छठवें में एक। आहाहा ! अरे ! दशवें (गुणस्थान) तक अभी राग का अंश और आस्रव है।

एक तरफ द्रव्य त्रिकाली शुद्ध है, उसके आश्रय से शुद्धपरिणति भी हुयी है। परंतु अभी पूरा आश्रय नहीं। इसलिये कर्म का निमित्त जो अनुभाव है उसमें मेरा लक्ष्य जाता है, आश्रय होता है। आहाहा ! यहाँ (स्व का) आश्रय पूरा नहीं इसलिये वहाँ (पर में) आश्रय होता है। परंतु यह मेरे पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण राग का व्याप्तपना है। आहाहा ! यह कर्म के कारण नहीं। वैसे मलिनता का अंश बिलकुल नहीं - ऐसा नहीं है। अरे ! अब ऐसी बातें है। **स्वामी कार्तिकेया (अनुप्रेक्षा) में तो यहाँ तक कहा है एक जगह कि समकिति अपने को वस्तु अपेक्षा, प्रभु जैसा स्वीकारता है अपनेको, परंतु समकिति पर्याय में तृणतुल्य पामर मानता है।** कहाँ केवलज्ञान और कहाँ चारित्रदशा। आहाहा ! और कहाँ हमारी एक ओर अनंतानुबन्धी के मिथ्यात्व के अभाव की परिणति... मैं पामर हूँ। आहाहा ! तृण तुल्य हूँ - ऐसा पाठ है स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा (ग्रंथ में) तृण तृण तृण... तिनके के समान। कहाँ प्रभु का केवलज्ञान और कहाँ मैं ? एक तरफ द्रव्य अपेक्षा पूर्ण हूँ, एक तरफ पर्याय में तृण तुल्य हूँ। आहाहा ! यह हमारा लक्ष्य है और उसे टालने के लिये हमारा प्रयत्न टीका करते (समय) है। आहाहा ! जो कि टीका करने का समय आया है, अन्यथा तो उसको टालने के प्रयत्न में ही हूँ। अंतर के स्वभाव सन्मुख होने को ही मेरा प्रयत्न है परंतु अब इस टीका का समय आया इसलिये कहता हूँ कि टीका से हमारी परम विशुद्धि हो। आहाहाहा !

निरंतर... किससे ? अनुभाव मोहकर्म के कारण। व्याप्ति कल्माषितायाः मैली है, आहाहा ! मुनिराज कहते हैं कि मेरी पर्याय में मलिनता है। आहाहाहा ! एक संज्वलन का राग, संज्वलन का एक चौकड़ी कषाय का भी मैल है, आहाहा ! यहाँ तो पाई पाई का हिसाब है। लोग नहीं कहते पाई पाई का हिसाब, आहाहा ! जैसा त्रिकाली

शुद्ध है वह भी है, परिणति शुद्ध है वह भी है, और निमित्त रूप अनुभाव्य कर्ममें जुड़ना जितना भी है उससे निरंतर कल्माषितपना भी है। आहा ! वस्तु तो जैसी है वैसी यथार्थ देखना चाहिए ना ? आगे-पीछे, कम-ज्यादा, विपरीत - ऐसा न हो (चले) आहाहा ! (सम्यग्ज्ञान तभी कहलायेगा) कम-ज्यादा, विपरीत (बिना) बराबर तुलना करना।

‘अब मैं कैसा हूँ ?’ देखा ! वह मेरी परिणति - ऐसा कहा था। आहाहा ! मेरी परिणति, पहले उसमें मम् अनुभूति - ऐसा था। निर्मलता और उसके साथ थोड़ा पर परिणति। हेतु मोहनाम्नोऽनुभावात् है - थोड़ी परिणति अशुद्ध है। आहाहा ! परंतु मैं कैसा हूँ ? आहाहा ! वस्तु अपेक्षा मैं कैसा हूँ ? परिणति में शुद्धता बहुत है और थोड़ी अशुद्धता है। मैं कैसा हूँ ? आहाहा ! मेरा अस्तित्व कैसा है कितना है ‘शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति’ शुद्धज्ञान मात्र स्वरूप। शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप ‘द्रव्य दृष्टि से शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति (स्वरूप) हूँ’ - ऐसा। शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति शुद्ध चैतन्य स्वरूप, शुद्ध चैतन्य स्वरूप मूर्ति अर्थात् स्वरूप शुद्ध चैतन्य वस्तु स्वरूप दृष्टि अपेक्षा त्रिकाल। आहाहा ! सर्वज्ञ शक्ति है ना इसमें ? अर्थात् मैं तो शुद्ध चैतन्य सर्वज्ञ स्वरूप ही हूँ। चिन्मात्र पूरण चिन् ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है। मैं तो यही हूँ। आहाहा ! हमारी परिणति, पर्याय दृष्टि से कहा, पर्याय दृष्टि से (मलिन) परंतु वस्तु दृष्टि से तो मैं शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति हूँ। आहा ! दोनों नयों को समाया है। आहाहा !

शुद्ध चिन्मात्र ! स्पष्टीकरण किया। इसप्रकार द्रव्य दृष्टिसे स्पष्टीकरण किया, क्योंकि वह पर्याय दृष्टि से अनुभाव्य था ना इसलिये थोड़ा खुलासा (स्पष्टीकरण) किया। वस्तु हूँ, वह तो उसे द्रव्य दृष्टि से कहो कि वस्तु हूँ, वस्तु से तो मैं शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति स्वरूप हूँ। वस्तु तो चिन् ज्ञानमात्र, चेतना स्वभाव पूरण स्वरूप मात्र मेरी चीज है। अपूर्णता नहीं, अशुद्धता नहीं। आहाहा ! संयोग नहीं विकाररूप संयोगी भाव नहीं, परंतु अल्पज्ञ की पर्याय भी मैं नहीं। आहाहा ! पर्याय अपेक्षा अशुद्धता मेरे में है - ऐसा कहा। आहाहा ! वस्तु अपेक्षा शुद्धज्ञान मात्र स्वरूप, शुद्धज्ञान मात्र स्वरूप (हूँ) आहाहाहा ! यहाँ (पुनः) सर्वज्ञपना सिद्ध किया। यह वस्तु ज्ञान स्वरूप ही है। ज्ञान को **मविशेषण लगाओ** तो सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वरूप यह विशेषण लगाओ तो शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप, सर्वज्ञ स्वभाव, मात्र स्वरूप, आहाहा ! ऐसी चीज मैं त्रिकाल हूँ। शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति, मूर्ति अर्थात् स्वरूप, मूर्ति अर्थात् यहाँ वर्ण, रस, गंध, स्पर्शवाली मूर्ति का काम नहीं। शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप। त्रिकाल ज्ञायकभाव, शुद्धज्ञान भाव, पूरण स्वभाव भाव - यह हमारा स्वरूप है। आहाहाहा ! एक श्लोक में कितना कहा है। आहाहाहा ! देखो ना ! संतो ने मार्ग सरल कर दिया है। संतो ने सरल कर डाला। (श्रोता :- आप भी वर्तमान में सरल करते हो)

यह शब्दार्थ हुआ।

भावार्थ :- आचार्य कहते हैं, आचार्य हैं ना ! अमृतचन्द्रआचार्य हैं। मुनि हैं और आचार्य हैं। आहाहा ! वह भी कहते हैं कि हमारी परिणति में अशुद्धता थोड़ी है आहाहाहा ! मेरे ज्ञान से ओझल नहीं, कि मैं शुद्ध ही होगया। बस हमारे में अशुद्धता जो आती रही वह निर्जरित हो जाती है - ऐसा नहीं। अशुद्धता आती है, उतनी मलिन दशा होती है और उतना बंध भी होता है। उसमें मोह निमित्त है, अनुभाव और यहाँ अनुभाव्य व्याप्त हमारे से है। इसप्रकार अशुद्धता हमारे से है और कर्म का थोड़ा बंध होता है, उसमें अशुद्धता निमित्त है। आहाहा ! विशेष जानने की इसमें कोई जरूरत नहीं, परंतु विशेष रुचि और परिणति का ज्ञान इसके ऊपर वजन है यहाँ तो **दृष्टि का जोर ध्रुव ऊपर और परिणति के दो भाग, शुद्ध और अशुद्ध उसका ज्ञान यथार्थ वर्तता है। आहाहाहा !**

आचार्य कहते हैं कि शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति की व्याख्या की 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से' तो मैं, शुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है। जिस ज्ञान में, शुद्ध पूर्ण द्रव्य स्वभाव, ज्ञायक वीतरागस्वरूप शुद्ध ध्रुव त्रिकाली एकरूप - ऐसा इस नय का प्रयोजन है, शुद्ध द्रव्य का आर्थिक, आर्थिक यानी प्रयोजन, शुद्ध द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है - ऐसा जो ज्ञान अर्थात् नय, उसकी दृष्टि से तो मैं शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। आहाहाहा ! सम्यग्दृष्टि मात्र वे सभी, मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ - ऐसा द्रव्य को मानते हैं। चौथे पांचवे छठवें (गुणस्थान) की पर्याय में फर्क है, वह अलग बात है। आहाहा ! 'जैसा समकित तिर्यच का वैसा समकित सिद्ध का' समकित में फर्क नहीं, चारित्र में अस्थिरता में फर्क है आता है न, **'रहस्यपूर्ण चिद्धी' टोडरमलजी में आता है। जैसा समकित तिर्यच का वैसा समकित सिद्ध का, चिद्धी में आता है ना ?** रहस्यपूर्ण चिद्धी में आता है।

यहाँ कहते हैं, मैं शुद्ध द्रव्य के प्रयोजन की दृष्टि से तो शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ परंतु ऐसी चीज होने पर भी और दृष्टि में यह (चीज) आयी है फिर भी मेरी परिणति मोह कर्म के उदय का निमित्त पाकर, मैली है यह तो निमित्त है, आहाहाहा ! आचार्य - ऐसा कहते हैं कि अभी मेरी मैली दशा है - ऐसा कहते हैं। - ऐसा विकल्प उठता है थोड़ा, इतनी मैली है, **ऐसे गर्व में चढ़ ना जाना कि, समकित हो गया अब बस कुछ नहीं, बंध भी नहीं और राग भी नहीं।** - ऐसा कहना नहीं बापा। आहाहा !

मोह कर्म के उदय का निमित्त पाकर (परिणति) मैली है, रागादि स्वरूप हो रही है। आहाहा ! एक तरफ मोक्षमार्ग प्रकाशक में यह कहा कि मुनि को अशुभ

भाव तो है ही नहीं। आता है ना ? पहले (तो) अशुभभाव है ही नहीं, मात्र धर्म के लोभी को देखकर शुभ भाव आता है, आता है ना उसमें ? परंतु यह शुभ भाव आता है, वह अपने पुरुषार्थ की कमजोरी है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के शुरुआत में है। आहाहा ! क्या अपेक्षा है - ऐसा जानना चाहिए ना ? शुभ भाव हो तब उपदेश होता है, क्योंकि अशुभ तो है ही नहीं। और **एक तरफ - ऐसा भी कहते हैं कि छठवें गुणस्थान में अभी भी आर्त ध्यान है, तीन लेश्या कहीं। पीत, पद्म और शुक्ल छठवें गुणस्थानमें लेश्या कही हैं। कृष्ण, नील, कापोत नहीं, हैं। तीनों शुद्ध कहीं और एक ओर ध्यान के चार भाग करने पर, आर्त ध्यान का भाग अभी छठवें में है।** आहाहाहा ! कषाय का अंश है ना, इतना आर्तध्यान है। उतना चैतन्य शुद्धप्राण पीड़ित होता है।

'रागादि स्वरूप हो रही है' इसलिये शुद्ध आत्मा की कथनीरूप शुद्ध आत्मा के कहने का रूप... इसमें से कोई - ऐसा ग्रहण करे कि देखो हम चाहे जैसा उपदेश दें, तो अपने को कुछ बंध है ही नहीं - ऐसा नहीं। छद्मस्थ को उपदेश का राग आता है, विकल्प है, केवली को नहीं। वहाँ तो विकल्प बिना वाणी निकलती है, नियमसार में पीछे (लिखा है)

यहाँ कहते हैं, 'शुद्ध आत्मा की कथनी (का) जो यह समयसार ग्रंथ है उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि हमारी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो जाओ।' टीका करने में परद्रव्य ऊपर लक्ष्य है, और एक तरफ - ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य ऊपर लक्ष्य हो तो राग हुये बिना रहे नहीं। 'पर दव्वाओ दुग्गई' - ऐसा कहा है, मोक्ष पाहुड़ की १६वीं गाथामें। तब यहाँ तो टीका, टीका तो शब्द है, पर-द्रव्य है परद्रव्य ऊपर लक्ष्य जाने में राग तो है, परंतु उसके ऊपर जोर न देकर, स्वभाव के ध्येय ऊपर जोर करके, इस टीका से, है ना ? उसका फल चाहता हूँ कि 'हमारी परिणति रागादि रहित शुद्ध होओ,' यह अपेक्षा है। आहाहा ! एक तरफ उपदेश का विकल्प उठता है, वह राग है, इतना बंधन है, परद्रव्य तरफ का आश्रय है, राग की दिशा पर तरफ है, राग की दशा मैली है। आहाहाहा !

हमारी परिणति रागादि रहित हो जाओ, 'मुझे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो ओ...।' उसका अर्थ ही यह है कि शुद्धि की प्राप्ति होगी ही। आहाहाहा ! क्या वाणी। आहाहा ! शुद्धि (की) प्राप्ति हो, 'दूसरा अन्य कुछ (नहीं) कि मैं टीका करता हूँ तो हमारी इज्जत बढ़ेगी। ओहोहो ! जो हमने टीका की उसमें ख्याति-लाभ कुछ मान प्रसंग का लक्ष्य नहीं है बापू। यहाँ हमारा काम नहीं। ओहोहो ! (कोई) अभिनंदन दे, आपने बहुत टीका की, वह हम चाहते नहीं। आहाहा ! ऐसी टीका आत्मख्याति जैसी, अभी

हिन्दुस्तान में अन्य जगह तो नहीं (दूसरे संप्रदायों में) दिगम्बर में भी यह जो टीका शास्त्र में है - ऐसी टीका अन्य जगह नहीं। ऐसी टीका, ऐसी टीका। ओहोहो ! और जिसका नाम आत्मख्याति-आत्म प्रसिद्धि, आत्मा को प्रसिद्ध करती है। आहाहा ! आहाहा ! लाभ पूजादिक चाहते नहीं। पूजा को चाहते नहीं। आचार्य है इसलिये - ऐसा कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं तुम बहुत हठीले हो, बहुत होशियार हो, हमें कुछ चाहिए, नहीं बापू ! हमको तो टीका के समय अशुद्धता कम हो जाये, दूसरी कुछ चाह नहीं। आहाहाहा !

‘इसप्रकार आचार्यने टीका करने की प्रतिज्ञा गर्भित... टीका करने की... इस शास्त्र की टीका करने की प्रतिज्ञा ली है। उसमें गर्भित ‘उसके फल की प्रार्थना की है लो.’ - यह श्लोक पूरा हुआ।

